

भूमिका

शास्त्रों के अनुसार 64 कलाएँ मानी गई हैं। उनमें संगीत सर्वाधिक लोकप्रिय कला है जो हृदय पर तात्कालिक प्रभाव डालने वाली कला है। संगीत कला एक जीवंत परम्परा के रूप में वैदिक युग से पवित्र सरिता की भाँति प्रवाहित होती आ रही है। संगीत भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। संगीत की परम्परा भी संस्कृति के समान अनादि और अनंत है।

संगीत की उत्पत्ति का स्रोत नाद माना गया है। नाद के दो रूप माने गये हैं – आहत नाद व अनाहत नाद। अनाहत नाद या स्वयंभू नाद वह नाद है, जो मानव शरीर में विभिन्न स्थलों पर विभिन्न रूपों में झंकृत हो रहा है एवं जो योगियों का विषय है जो साधना के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है या जिसकी अनुभूति की जा सकती है। आहत नाद एक भौतिक नाद है जिसको आघात द्वारा भौतिक रूप से प्राप्त किया जाता है। अर्थात् उसमें प्रत्यक्ष रूप से या भौतिक रूप से जब किसी वस्तु पर आघात होता है तब उस आघात द्वारा ध्वनि प्राप्त होती है। इस प्रकार जहाँ अनाहत नाद को 'योगीनाम् विषयेन् च' कहकर केवल यौगिक साधना हेतु उपयुक्त माना गया वहीं आहत नाद, संगीतोपयोगी नाद माना गया जो इस समय प्रत्यक्ष जगत में विविध रूपों में सुनाई देता है और इस आहत नाद को ही संगीत की प्रचलित विविध विधाओं जैसे गायन, वादन व नृत्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। गायन से तात्पर्य कंठ संगीत से है तथा वादन में विभिन्न वाद्यों के आघात से उत्पन्न संगीत से है।

इसके अतिरिक्त संगीत में एक आवश्यक गुण लालित्य भी है। यदि लालित्य नहीं है तो उसको हम संगीत नहीं कह सकते, यदि वह गाना, बजाना भी है तो वह कोलाहल भी हो सकता है, परन्तु उसे हम संगीत की श्रेणी में नहीं रख सकते। संगीत का अर्थ एवं व्याख्या हेतु जब शब्द का विग्रह किया जाता है तो वह निम्नवत् स्पष्ट किया जाता है यथा –

सम्यक् रूपेण गीतं इति संगीतम्।

सम्यक्‌रूपेण गीतं की भी व्याख्या सुर, लय, ताल के साथ लालित्यमयी प्रस्तुति दी के रूप में दी जाती है। संगीत में जब लालित्य की बात करते हैं, भारतीय दार्शनिकों के अनुसार संगीत में रस की व्याप्ति मानी है। वो रस आनन्दमय है और यही रस वैविध्य हमें विविध रूपों में विविध प्रकार के शब्द संयोजन से या फिर स्वर के संयोजन से प्राप्त होता है। यह केवल स्वर संयोजन मात्र से ही संभव नहीं वरन् स्वर संयोजन के साथ ही साथ जिनमें माधुर्य हो, कंठ ध्वनि हो फिर चाहे वह वाद्य यंत्र के द्वारा ही क्यों न प्रस्फुटित किये जाये। इनके साथ लय, छंद, पद, अलंकार, ताल इन सभी तत्वों का समाविष्ट रूप बंदिश का रूप लेता है एवं रस निष्पत्ति का कारक होता है। भरत ने संगीत को 'स्वर पद ताल लयात्मक' के रूप में परिभाषित किया है। यदि बंदिश के संदर्भ में व्याख्या करें तो उपर्युक्त सभी तत्वों का समाहार ही बंदिश है।

शास्त्रीय संगीत का इतिहासपरक अवलोकन

संगीत की किसी भी शैली का उद्गम या तो किसी प्राचीन शैली के आधार पर अथवा प्राचीन या आधुनिक संगीत के मिश्रण से या फिर प्राचीन शैलियों के स्वाभाविक विकासमान से अर्थात् क्रमिक उन्नति द्वारा हो सकता है। क्रमिक उन्नति के बारे में स्वामी प्रज्ञानानन्द जी का कथन इस प्रकार है –

'The upholders of the Sankhya and the Vedanta believe in the Satkaryavanda, which means, effect is the manifested form of cause that exists eternally. They maintain that everything comes out from that which already exists in a causal.'¹

अर्थात् सांख्य व वेदान्त के समर्थक सत्कार्यवाद में विश्वास करते हैं जिसका अर्थ है कि 'परिणाम उस मूल कारण को प्रकाशित करता है, जिसका सदैव से ही अस्तित्व रहा है। वह मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु उसी से निकल सकती है जो पहले से विद्यमान हो और यदि उस कल्पना या परिणाम से वापस मूल की ओर चला जाये तो फिर से वह उसी मूल में मिल जाती है।

देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए धीरे-धीरे यज्ञ का निर्माण हुआ। यज्ञ में ऋग्वेद की ऋचाएँ गाई जाती थी। ऋग्वेद के मंत्र ऋचाएँ कहलाई। मंत्र ऋचाएँ तब कहलाई जब उन्हें एक स्वर में गाया गया। किन्तु यहीं मंत्र स्वर एवं आलाप सहित गाये गये तो यह 'साम' कहलाये।²

वैदिक भाषा का दूसरा नाम छंद की भाषा था। सांगीतिक रचनाओं को एक विशेष दिशा यहीं से मिली क्योंकि इस भाषा के शब्द और औपचारिकताओं से उसका गायन यह बताता है कि रचना के कड़े नियम रहे होंगे क्योंकि उन कवियों का दावा था कि वे सामान्य बोल-चाल के भाषा में सुक्त नहीं रचते।³

अनेक योगियों व महर्षियों के मनन चिंतन से भारतीय शास्त्रीय संगीत की पद्धति का रूप स्थिर हुआ। जिसका उद्देश्य था परम सत्य की प्राप्ति ऐसे आनन्दात्मक संगीत के बाहरी आधार में परिवर्तन आने के फलस्वरूप संगीत की अनेक शैलियों का आविर्भाव हो गया। विकास क्रम के दीर्घ अन्तराल में राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में समय-समय पर परिवर्तन आने के कारण संगीत को भी अनेक दशाओं से गुजरना पड़ा। जिससे कभी-कभी उसके शुद्ध व पवित्र रूप को भी ठेस पहुँची परन्तु किसी भी संगीत द्वारा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के धारणा आज भी संगीतज्ञों के अर्न्तमन में विद्यमान रहती है।

इस प्रकार प्राचीनकाल से ही स्वर लय युक्त मंत्रों द्वारा या स्तुतिगाथा द्वारा ईश्वर की उपासना या आराधना की जाती थी और वही प्रथा आज तक चली आ रही है। आज भी मंदिरों में देवालयों तथा ग्रहों आदि में भावना की उपासना स्वर व लय की सहायता से ही की जाती है।

स्वरबद्ध रचनाएँ प्राचीन काल से लेकर आज तक प्रचार में आती रही है। उनके नामों व रचना के नियमों में अन्तर आ जाना स्वाभाविक ही है।

निबद्ध व अनिबद्ध शब्दों को नया अर्थ मिला जब इनके अर्न्तगत एक रचना को विविध रूपों में तत्कालीन प्रकट किया जाने लगा। निबद्ध रचना जो बन्धन में थी और अनिबद्ध जो बन्धन से

मुक्त थी। यह रचनाएँ नियमों में बाँधकर और विकसित हुईं। निबद्ध का साधारण नाम प्रबन्ध हो गया। प्रबन्ध शब्द में बन्धन या बद्धता का भाव। निहित होने से इसका अर्थ साम्य स्पष्ट ही है।

पं० शारंगदेव ने प्रबन्ध को पुरुष रूप माना और उसके चार धातु तथा छ अंग बताये हैं। प्रबन्ध की इन धातुओं के समान आज भी बंदिश के स्थाई, अन्तरा, संचारी, और आभोग को मान सकते हैं। अनिबद्ध रचना केवल आलाप मात्र ही था।

‘नाट्यशास्त्र’ में जाति गायन का उल्लेख मिलता है। जातियों को सुन्दर बनाने के लिए विविधवर्ण एवं अलंकारों का प्रयोग होता था। गायन वादन की शैलियाँ के आधार पर चार जातियाँ रहती थीं मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला थी। यही जाति गायन वाद्यों पर बजने वाली साम्रगी का मूल था। इसका प्रचार प्रायः 13 वीं शताब्दी तक देश भर में था। तत्पश्चात् प्रबन्ध गायन प्रचार में आ गया था। प्रबन्ध के पश्चात् ध्रुपद गायन की प्रणाली प्रचलित हुई।

ध्रुपद

ध्रुपद अर्थात् ध्रुपद भारतीय संगीत का मध्यकालीन (14 वीं शताब्दी के अन्त एवं 15 वीं शताब्दी के प्रारम्भ) मुख्य गायन शैली रही है। ध्रुपद प्रबन्ध शैली का परिवर्तित रूप है। ध्रुपद के आविष्कारक के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता है। ध्रुपद का प्रचार मध्यकाल में राजा मानसिंह तोमर के समय में बहुत हुआ यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। राजा तोमर ने प्रचलित गायन में कुछ जोड़ घटाकर ध्रुपद गायन शैली का आविष्कार किया और दरबार में आने वाले कलावन्तों को ध्रुपद गायन के लिए प्रोत्साहित किया।⁴

आधुनिक युग की प्रबन्ध गायन में ध्रुपद का विशेष स्थान है। यहां ध्रुव का तात्पर्य ‘अचल’ है। ‘ध्रुवा’शब्द भरत रचित ‘नाट्यशास्त्र’ में प्राप्त होता है। यह अधिकतर ध्रुवा गीत नामक छन्द में निबद्ध हुआ करते थे। भरत ने ध्रुवा के 18 अंगों को अपने ग्रन्थ में विश्लेषण किया है। यह एक काव्य, स्वर तथा छन्द से युक्त रचना थी, जिसके निश्चित अंग हुआ करते थे।

इन गीतों में यति, वर्ण, अलंकार, ग्रह आदि का सहसम्बन्ध सुनियोजित था। ध्रुवा बहुउद्देशीय ग्रन्थ में 'चोक्षा' तथा शारंगदेव ने उसे 'शुद्धा' गीति कहकर पुकारा है। इस समय ध्रुपद गायन को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था एवं इनके गायकों को 'कलावन्त' नामक नाम उपाधि से अलंकृत किया गया।⁵

ध्रुपद गायन करते समय स्वर, शब्द एवं ताल को मूल शुद्ध रूप में गाया व बजाया जाता है। प्राचीन समय में ध्रुपद गायन करते समय आलाप करते हुए ' ओम् नारायण अनन्त हरि' आदि भक्तिपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया जाता था परन्तु विदेशी संस्कृति के आगमन अथवा प्रभाव से इसका रूप नोम् तोम्, नाती, नदों ने ले लिया। इसके पश्चात् विभिन्न लयकारियों का गायन किया जाता है। साथ ही साथ शब्दों के शुद्ध उच्चारण पर भी ध्यान दिया जाता है।

ध्रुपद के अन्तर्गत द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टपदी आदि गीतों का प्रयोग किया जाता है। इसमें स्वरों को सौन्दर्य प्रदान करने के लिए कण, खटका एवं मुर्की आदि का प्रयोग वर्जित है क्योंकि इसमें स्वरों का प्रयोग सीधा, शुद्ध व परिष्कृत है। ध्रुपद में गमक का प्रयोग भरपूर दिखाते हैं क्योंकि यह एक गम्भीर शैली है। इसमें आकार की तानों को ना गाकर गमकतान एवं बोलतान आदि गाते हैं।

ध्रुपद की संगति – इस शैली का स्वर वाद्य रूद्र वीणा है और ताल वाद्य पखावज है। प्राचीन व श्रेष्ठ ध्रुपद गायक रूद्र वीणा और पखावज के साथ ही ध्रुपद का गायन करते थे। परन्तु जब ध्रुपद का प्रचार कम हो गया और ख्याल शैली का प्रचार हो गया तब ख्याल गायन शैली के साथ तबला वादन प्रयुक्त किया जाने लगा और ध्रुपद के साथ भी तबला वादन ही प्रयोग होने लगा।

ध्रुपद परंपरा के वाद्यों में रबाब और सुरसिंगार को भी सेनिया घराने ने उचित स्थान दिया है⁶ परन्तु ध्रुपद के साथ तबला नहीं बल्कि पखावज ही बजती है एवं साथ ही तंबूरा भी होता था।

ध्रुपद की गायन शैली विशेषतायें – 1. ध्रुपद गायन शैली में गमक का प्रयोग बहुत ही सहजता से किया जाता है।

2. यह एक गंभीर व शालीन प्रकार की गायकी है, अतः स्वरों पर ठहराव का अभ्यास ही इस गायकी को सफल व सुंदर बनाता है क्योंकि यह एक गंभीर और गमक प्रधान गायकी है इसीलिए पुरुषों गायको को इस गायकी के लिए श्रेष्ठ समझा जाता है। आज तक ध्रुपद गायन में अधिकतर पुरुष गायको का नाम गिना जाता है स्त्री गायको का नाम बहुत कम सुना जाता है। स्त्री गायकों में विदुषी सुमति मुटाटकर और मधुभट्ट तैलंग का नाम लिया जाता है।

3. ध्रुपद गान के दो आश्रय स्थल थे वैष्णव मन्दिर और राजदरबार। प्रायः दोनों जगह ध्रुपद के साथ नृत्य परम्परा भी रही है।

4. ठाकुर जयदेव सिंह ने भी ध्रुपद के साथ नृत्य व अभिनय की पुष्टि की है उन्होंने उल्लेख किया है कि 9–10 वर्ष की आयु में उन्होंने स्वयं ध्रुपद के साथ नृत्य होते हुए देखा था, लेकिन गत 50 वर्षों में नेपाल को छोड़कर भारत में इस प्रकार की कोई परम्परा उपलब्ध नहीं है।

ध्रुपद की बानियाँ

बानी 'वाणी' शब्द का अपभ्रंश रूप है। बानी का सम्बन्ध शब्दोच्चार से है। संगीत में स्वरोंच्चार और शब्दोंच्चार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शब्द तथा स्वर के उच्चारण की विचित्रता कलाकार की कण्ठगत विशेषता, संस्कार एवं मनोधर्म पर आधारित होती है। इसी से विभिन्न गायन शैलियों का निर्माण होता है। ध्रुपद की इन्हीं विभिन्न गायन शैलियों को बानी कहते थे। इन बानियों के चार भाग थे। गोबरहार, डागुर, खण्डहार व नौहार इनका आविष्कार तत्कालीन प्रसिद्ध गायकों ने किया था।

'मआदनुलमूसीकी' नामक ग्रन्थ के प्रणेता हकीम मुहम्मद करम इमाम ने उक्त चारों वाणियों के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं:-

अकबर बादशाह के दरबार में उस समय चार महागुणी रहते थे। 1. तानसेन 2. ब्रजचन्द ब्राहमण (डागुर गाँव के निवासी) 3. राजा समोखन सिंह वीणाकार (खण्डहार नामक स्थान के निवासी) 4. श्रीचन्द राजपूत (नौहार के निवासी)। अकबर के समय में इन चारों के द्वारा चार वाणियाँ प्रसिद्ध थीं। तानसेन गौण ब्राहमण होने से उनकी वाणी का नाम गौणीय अथवा गोबरहार पड़ गया। प्रसिद्ध वीणाकार समोखनसिंह की शादी तानसेन की कन्या के साथ होने के कारण उनका नाम नौबाँद खाँ निश्चित हुआ। नौबाँद खाँ का निवास स्थान खण्डहार था, इसलिए उनकी वाणी का नाम खण्डहार वाणी हुआ। ब्रजचन्द के निवास स्थान के नामानुसार उनकी वाणी का नाम डागुर वाणी तथा राजपूत श्री चन्द नौहार के निवासी है, इसलिए उनकी वाणी का नाम नौहार वाणी प्रसिद्ध हुआ।

इन चारों वाणियों के प्रधान लक्षण इस प्रकार है –

गोबरहार वाणी – गोबरहार वाणी को राजा की संज्ञा दी गई है। इस वाणी का कई स्थानों गौरी वाणी द्वारा उल्लेख भी किया गया है। इस वाणी के निर्माता स्वयं मियाँ तानसेन माने जाते हैं परन्तु कुछ लोग नायक कुम्भदास को गोबरहार वाणी का और मियाँ तानसेन को सेनिया वाणी का प्रवर्तक मानते हैं।

इस गायकी में गंभीरता अधिक है एवं दीर्घ श्वास अभ्यास से स्वर के ठहराव पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसका प्रधान लक्षण प्रसाद गुण है। यह शांत रसोद्दीपक है और इसकी गति धीर है।

खण्डहार वाणी – खण्डहार वाणी को सेनापति के समान माना गया है। खण्डहार वाणी का मूल स्रोत खण्डहार नामक गाँव था और अकबरी दरबार के प्रसिद्ध गायक और बिनकार राजा समोखन सिंह इसके प्रवर्तक थे। खण्डहार वाणी के साथ नौबत खाँ का नाम जोड़ा जाता है। विद्वानों का यह भी कहना है कि खण्डहार प्रदेश के ही नौबत खाँ निवासी थे।

यह शैली वाद्य आश्रित है। “वैचित्र्य और ऐश्वर्य प्रकाश खण्डहार वाणी की विशेषताएँ हैं।”
गोबरहारी वाणी की अपेक्षा इसमें वेग और तरंगें अधिक होती हैं किन्तु इसकी गति अतिविलम्बित नहीं होती।

डागुर वाणी – डागुर वाणी को मंत्री की संज्ञा दी गई है। डागुर वाणी के प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी समझे जाते हैं। कुछ लोगों के विचार में डागुर वंशज हरिदास कोई अन्य गायक हुए हैं। कुछ विद्वान ब्रजचंद को डागुरी गायकी का प्रवर्तक मानते हैं। डागुरी वाणी के विषय में उस्ताद सईउद्दीन डागर के विचार कुछ इस प्रकार हैं उनके मतानुसार शब्द का उच्चारण लय और स्वरों के आधार पर होता है और राग का भाव सुरक्षित रखा जाता है। उनके शब्दों में “स्वर लगाव से ही पहचाना जाता है कि फलां वाणी का गायक है।”

इस वाणी की प्रधानता और लालित्य है। इसकी गति सहज व सरल है। इसमें स्वरों का टेढ़ा और विचित्र काम दिखाया जाता है।

नौहार वाणी – नौहार वाणी को कोषाधिकारी के समान माना गया है। कहा जाता है कि इस वाणी के प्रवर्तक हाजी सुजान खाँ थे। हाजी सुजान खाँ साहब मियाँ तानसेन के दामाद थे। कुछ लोग श्रीचन्द को इस गायकी का प्रवर्तक मानते थे। यह भी कहा जाता है कि श्रीचन्द दिल्ली प्रदेश के एक गाँव नौहार के निवासी थे।

नौहार रीति से सिंह की गति का बोध होता है। एक स्वर से दो तीन स्वरों का लंघन करके परवर्ती स्वर में पहुँचाना इसका लक्षण है। इस वाणी के गायन में कोमलता अधिक है और ऐसा माना जाता है कि स्वरों के लगाव में बहुत सरसता है।

इन वाणियों को लेकर कई विद्वान एकमत नहीं हैं। कई विद्वानों का कहना है कि ये वाणियाँ शुद्धा, भिन्ना, बेसरा, साधारणी जैसी गीतियों पर आधारित हैं और विद्वानों का कहना है कि भाषा भेद पर ये वाणियाँ बनी हैं। दोनों ही विचारधाराओं के सम्बन्ध में ठोस प्रमाण नहीं मिलते।

ध्रुपद एक प्राचीन गायन शैली है। प्राचीन लोग इसे ईश्वर की स्तुति के रूप में गाते थे। उत्तर भारत एवं राजस्थान के कतिपय मुनियों में ध्रुवपद आज भी पूजा प्रार्थना के रूप में दिखाई देता है।

धमार

16 वीं शताब्दी में संगीत की धमार गायन शैली का उद्भव हुआ था। इस मधुर गायन शैली के आविष्कर्ता ग्वालियर के महान संगीत प्रेमी महाराजा मानसिंह के दरबारी गायक कलावन्त श्री बैजनाथ मिश्र थे। यही कालान्तर में बैजू बावरा के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये स्वामी हरिदास के शिष्य थे, इस कारण ये ध्रुपद में भी प्रवीण थे। श्री बैजनाथ ने ग्वालियर की महारानी मृगनयनी की सहायता एवं प्रेरणा लेकर नवीन शैली (धमार) होरी गायकी का सृजन एवं प्रचार किया जिसे नव निर्मित ताल धमार द्वारा निबद्ध किया और उसका नाम धमार पड़ गया। शनैः—शनैः यह गायन शैली समस्त संगीत क्षेत्र में प्रख्यात हो गई। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अनुसार महारानी मृगनयनी ने अपने गुरुजी बैजू बावरा की प्रतिभा को निखारने व प्रसार करने के लिए महाराज मानसिंह की सहायता से 'ग्वालियर संगीत विद्यापीठ' की नींव रखी जिसमें होरी (धमार) गायकी का पाठ्यक्रम और ताल धमार को अनिवार्य शिक्षा घोषित किया गया। आगे चलकर सम्राट तानसेन ने इसी विद्यापीठ में महारानी मृगनयनी से धमार गायकी की शिक्षा ग्रहण की।

धमार की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है — धमार ताल में गाई जाने वाली होरी या होरी विषयक गीत को धमार कहते हैं।

ध्रुपद के समान धमार में भी मीड़ एवं गमक का बड़ा प्रभावपूर्ण प्रयोग किया जाता है। ख्याल की भांति धमार में बीच—बीच में आलाप, तानें, मुर्की एवं गिटकरी आदि का प्रयोग सर्वथा वर्जित है। जिस प्रकार ध्रुपद गायन शैली में विभिन्न लयकारियों जैसे दुगुन, तिगुन, चौगुन, छःगुन, आड़, कुआड़ बिआड़ आदि का प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार धमार में भी इन लयकारियों को गाया जाता है।

ख़्याल

आधुनिक समय की एक लोकप्रिय गायन शैली ख़्याल शैली है। ख़्याल फारसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है विचार या कल्पना। शास्त्रीय संगीत की ख़्याल गायन शैली की उत्पत्ति के विषय में कई मत-मतान्तर प्रचलित हैं। कहा जाता है कि ख़्याल गायन शैली का आविष्कार 14वीं ई. में अमीर खुसरो द्वारा हुआ था और एक विचार यह भी है कि प्राचीन काल से ही इसकी गायन परम्परा जारी है किन्तु इसका नामकरण खुसरो के समय में ही हुआ। कुछ विद्वानों के मतानुसार मध्यकाल में प्रसिद्ध रूपक नामक प्रबन्ध के द्वारा ख़्याल शैली का विकास हुआ है। यह एक ऐसा प्रबन्ध था जिसमें नवीन स्वरों को योजनाबद्ध कर नये राग रूप का निर्माण किया जाता है। कुछ विचारक प्राचीन साधारणी गीति से ख़्याल का विकास मानते हैं।⁶

कुछ विद्वान सुल्तान हुसैन शर्की को ख़्याल शैली का जन्मदाता स्वीकारते हैं किन्तु अधिकतर विद्वानों का मत है कि ख़्याल शैली का विकास एवं प्रचार 18 वीं शताब्दी में मुहम्मद शाह रंगीले के समय में हुआ। इस प्रकार मध्य काल से इसका विकास होते-होते यह अब घरानों में सुरक्षित होने लगा था। जहां पर इसके अलग-अलग घराने बन गये थे। ख़्याल गायकी के कई घराने प्रचलित हैं जैसे – ग्वालियर, जयपुर, दिल्ली, किराना, आगरा और पटियाला आदि।

ख़्याल के प्रकार

इस गायन शैली में दो प्रकार के गीत प्रकार सम्मिलित किये जाते हैं। बिलंबित या बड़ा ख़्याल और दूसरा द्रुत या छोटा ख़्याल जो मध्य लय में या द्रुत लय में निबद्ध होता है। लय भेद के कारण इन दोनों की रचना में बहुत अन्तर दिखाई देता है।

विलम्बित या बड़ा ख़्याल – जैसा कि इसके नाम से ज्ञात होता है कि बिलंबित अर्थात् धीमी लय में गाया जाने वाला यह ख़्याल का एक प्रकार है। विलम्बित ख़्याल की अपनी ही एक विशेषता है इसकी लय बिलंबित होने के कारण इसकी रचना में प्रयुक्त प्रत्येक स्वर समूह और क्रियाकलाप

स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इस गायकी में शब्दों का महत्व कम होता है। इसी कारण बिलंबित ख्याल में शब्द भी कम होते हैं। प्रायः दो से पांच मात्राओं का ही मुखड़ा होता है। आजकल के कुछ संगीतकार बड़े ख्याल के पूर्व विस्तार से आलाप करते हैं परन्तु अधिकतर विद्वज्जन राग गायकी के मध्य लय के साथ आलाप गायन करते हैं। आलाप गायन में एक-एक स्वर पर ठहराव करते हुए बढ़त करते हैं। एक ही स्वर को बार-बार भिन्न-भिन्न तरीके से प्रस्तुत करते हैं जिससे राग में लगने वाली प्रत्येक स्वर का ज्ञान भलीभाँति हो जाता है अर्थात् बड़े ख्याल की गायकी में आलापों द्वारा राग के हर पक्ष को उभारा जाता है जिससे राग की विविधता और वैचित्र्य का एक विराट और कलात्मक रूप साकार हो जाता है। हर आलाप के मुखड़े के पहले कलात्मक समाप्ति और हर आने वाले आलाप का पूर्व आलाप से अर्न्तसम्बन्ध एक ऐसी निरन्तरता को सांगीतिक रूप देता है और रागदारी संगीत की एक अविरल धारा को प्रकाशित करता है। आलाप की समाप्ति के बाद मुखड़े का आना ख्याल शैली का एक बहुत आकर्षक केन्द्र बिन्दु है।

विलम्बित ख्याल का आविष्कारक कौन था? यह प्रश्न विवादास्पद है परन्तु अधिकतर विद्वान जौनपुर के राजा सुल्तान हुसैन शर्की को इसका आविष्कारक मानते हैं। मुगल बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले के समय तक ख्यालों का काफी प्रचार होता चला गया इन्हीं के दरबार में सदारंग नामक गायक ने अनेक ख्यालों की रचना की और बाद में अदारंग, मनरंग, दरसपिया, ललनपिया, कदरपिया आदि ने अनेक ख्याल बनाये और उन्हें लोकप्रिय कर उनका प्रचार-प्रसार किया।

द्रुत अथवा छोटा ख्याल

द्रुत लय में गाये जाने वाले ख्याल को द्रुत या छोटा ख्याल कहते हैं। द्रुत ख्याल की रचना में लय भेद के कारण शब्द अधिक होते हैं क्योंकि इसकी लय अधिक होती है। द्रुत ख्याल में स्वर का शब्द और मात्रा से अपूर्व सौन्दर्यमूलक संबंध बनता है जिससे बंदिश का पूर्ण रूप सामने आता है।

छोटे अथवा द्रुत ख़्याल की उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि चौदहवीं शताब्दी में दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी के दरबारी गायक अमीर खुसरो द्वारा छोटे ख़्याल का आविष्कार हुआ और उन्होंने क़व्वाली से प्रेरित होकर छोटे ख़्याल की रचना की।

विलम्बित ख़्याल और द्रुत ख़्याल दोनों ही ख़्यालों में दो घटक होते हैं – स्थायी, अन्तरा, परन्तु दोनों घटकों के आन्तरिक संबंध पर रचना का सौन्दर्य निर्भर करता है। विलम्बित ख़्याल की अपेक्षा द्रुत ख़्याल में मुखड़े का महत्व और अधिक बढ़ जाता है क्योंकि ताल का आवर्तन मध्य या द्रुत लय में होने के कारण जल्दी आ जाता है। इस प्रकार की कलाएँ मिलकर श्रोता, कलाकार और बंदिश में एक कलात्मक अन्तर्संबंध पैदा करते हैं अर्थात् हर सम के बाद वैचित्र्य और फिर वहाँ स्थायी मूल मुखड़ा। यही कम छोटे ख़्याल के सौन्दर्य का मूल आधार है। जो वास्तव में बहुत ही कर्णप्रिय तथा श्रोतागणों को अपनी ओर आकर्षित करता है।

छोटे ख़्याल की बंदिशों में मुखड़े की विविधता असीमित है। बहुत सरल बंदिशों में आठ मात्राओं का मुखड़ा त्रिताल में खाली अथवा नौवीं मात्रा से उठता है। इस प्रकार की मुखड़े वाली बंदिशों का ज्ञान प्रारम्भिक संगीत विद्यार्थियों को दिया जाता है। जिससे बंदिश समझने व सीखने में कठिनाई का अनुभव ना हो। इसी ताल में दस, आठ, सात, पाँच, चार आदि मात्राओं के मुखड़े की काफी बंदिशों में मिलती है।

तराना

भारतीय शास्त्रीय संगीत की गायन शैलियों में से तराना अत्यन्त लोकप्रिय शैली रही है। तराना में निरर्थक शब्दों की स्वरबद्ध रचनाएँ गाई जाती हैं। ये शब्द लय, स्वर और कल्पना के योग से श्रोताओं को प्रभावित कर देते हैं। तराना को दक्षिणी संगीत पद्धति में 'तिल्लाना' कहते हैं। एक फारसी शब्द 'तरान' भी है जिसका हिन्दी अर्थ है गाना, नगम तथा एक विशिष्ट प्रकार का गीत। दूसरा अरबी भाषा का शब्द तरन्नुम है जिसका अर्थ स्वर माधुर्य, खुशआवाज, हल्का गाना तथा मधुर गान।

तराना के आविष्कर्ता में अमीर खुसरो का नाम अधिक प्रसिद्ध है क्योंकि उन्होंने कई प्रकार के वाद्यों, रागों, तालों एवं शैलियों का आविष्कार किया था किन्तु यह एक किवदंती है क्योंकि ग्रन्थों या पुस्तकों में ऐसा कोई तथ्य या प्रमाण प्राप्त नहीं होता।

तराना शैली निरर्थक अक्षरों की सार्थक गायन शैली है जो वर्तमान निबद्ध गान का मनमोहक एवं लोकप्रिय प्रकार है ये शैली दूसरी निबद्ध गान से पूर्णतः भिन्न है। तराना की मुख्य विशेषता गीत (शब्दों) की निरर्थकता में है जैसे – “ त, न, री, तन, तोम, ओ, दा, नी, यल आदि। इन शब्द व अक्षरों से युक्त राग-ताल बद्ध रचना ही तराना शैली कहलाती है किन्तु इन शब्दों की रचनाओं का कोई अर्थ नहीं होता। इन अर्थविहिन अक्षरों का चयन इस प्रकार से करते हैं जिससे गायन में कलाकार को सुविधा हो सके। इसमें कई बोल सितार वाद्य के होते हैं जैसे – दा, रा, द्रे आदि तथा कई बोल तबले और पखावज के जोड़े जाते हैं उदाहरण के लिए न, ता, कड़ांधा, धुमकित आदि शब्द रचनायें तराने की बहुमूल्य निधि हैं।

लक्षणगीत

लक्षणगीत दो शब्दों से मिलकर बना है – लक्षण और गीत। लक्षण का अर्थ है—चिन्ह या विशेषता और गीत का अर्थ है – बंदिश या गाना अर्थात् वह गीत जिसमें राग के वादी, संवादी, जाति, गायन समय आदि लक्षणों का वर्णन किया जाता है। वह लक्षणगीत कहलाता है।

लक्षणगीत का अर्थ है लक्षण बताने वाला गीत। अर्थात् वह गीत जिसमें राग के सभी लक्षणों का वर्णन हो, लक्षणगीत कहलाता है। जिस गीत में राग के वादी, संवादी, जाति, गायन समय, विवादी स्वर इत्यादि का वर्णन होता है तथा वह गीत उसी राग में निबद्ध हो तो उस गीत को लक्षणगीत या रागों के लक्षण बताने वाला गीत कहते हैं। उदाहरणस्वरूप— भैरवी राग के लक्षण इस प्रकार हैं –

1. रे ग ध नी कोमल स्वर
2. सम्पूर्ण जाति
3. समय प्रातकालीन
4. वादी म, संवादी सा इत्यादि।

इस प्रकार यदि ये सभी लक्षण किसी गीत में हो और उसकी स्वरलिपि भी उसी राग में हो तो वह उस राग का लक्षणगीत कहलायेगा।

यह शैली भारतीय संगीत में विशेष स्थान रखती है। इसमें संगीतशास्त्र के सिद्धांतों की, संगीत के क्रियात्मक पक्षों की जानकारी गेय रूप में दी गयी होती है। किसी भी रचना की जानकारी जब संगीतात्मक पक्ष से दी जाती है तो उसका प्रभाव मनुष्य पर जल्दी और देर तक रहता है। इसलिए संगीत की रचनाओं के बारे में लक्षणगीत बनाये गये। पं. भातखण्डे जी ने अनेक लक्षणगीत बनाये जिसमें राग, ताल, शैली और सांगीतिक पारिभाषिक तत्वों की जानकारी मिलती है। लक्षणगीत को मुख्य तौर पर तीन भागों में बाँटा गया है –

1. राग लक्षणगीत
2. ताल लक्षणगीत
3. संगीत के पारिभाषिक तत्वों के बारे में लक्षणगीत

राग लक्षणगीत – इन गीतों में राग के विषय में पूर्ण जानकारी दी जाती है कि इस राग की जाति कौन सी है, वादी, संवादी क्या है, वह कौन से थाट के अंतर्गत आता है, और उसका गायन समय क्या है, आदि। राग खमाज का लक्षण संबंधी दोहा इस प्रकार है –

आरोह में रे वर्जित, गावत राग खमाज।

द्वितीय प्रहर निशि गाइये, रखिए ग नि संवाद।।

ताल लक्षणगीत – जिस तरह राग लक्षण पढ़कर राग की पूर्ण जानकारी मिल जाती है। इस तरह ताल के लक्षणगीत से ताल का परिचय मिल जाता है जैसे – ताल लक्षण संबंधी दोहा इस प्रकार है –

तीन आठ ताली लगे, छः पर आए काल।

प्रथम सम दस मात्रा, दो तीना झपताल।।

पारिभाषिक तत्वों के बारे में लक्षणगीत – संगीत के तीसरे प्रकार के लक्षणगीतों में संगीत के पारिभाषिक तत्वों के बारे में जानकारी मिलती है। जैसे – ध्रुपद, धमार, ख्याल आदि।

सरगम गीत –

राग में प्रयोग किए जाने वाले स्वरों को जब तालबद्ध करके गाया जाता है तो उसको सरगम गीत कहा जाता है। इसको स्वरमालिका भी कहा जाता है। सरगम गीत में स्वर और ताल तो होती है परन्तु गीत के बोल नहीं होते। सरगम गीत किसी भी राग की हो सकती है, इसमें मध्य लय ही प्रयोग की जाती है। सरगम गीत में राग के मुख्य स्वर समुदाय द्वारा राग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणस्वरूप राग भैरव में एक सरगमगीत इस प्रकार है –

स्थाई –

ध S ध S	म S ग म	रे S रे S	स S स S
ध नि ध सां	S सा रे सा	S रे ग म	रे S स S
X	2	0	3
अन्तरा –			

ग S म S	ध S नि S	सां S सां S	सां S नी सां
ध S ध S	नी S सां S	नी S ध S	प S S S
ध S ध S	प S ग म	S रे S रे	स S स S
सादरा –			

कहा जाता है कि सादरा गीत विधा ध्रुपद, धमार अंग की है परन्तु यह झपताल में निबद्ध होती है। सादरा गायन शैली में स्वर, राग की शुद्धता, काव्य का स्पष्ट उच्चारण, लयकारी का सही प्रदर्शन आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके साथ ही गायन शैली में स्वर, श्रृंगार, मीड़, गमक, कण आदि का प्रयोग किया जाता है। यह अधिकतर झपताल में ही गाया जाता है।

पं. गुलशन भारती के अनुसार “सादरा केवल लखनऊ की ही चीज है। इसकी गायकी लखनऊ से ही मशहूर हुई है।” सादरा का गायन जिसकी लय अच्छी हो, रागदारी अच्छी हो और बोल बाँट अच्छी हो वहीं कर सकता है। प्रो. मानसदास गुप्ता के अनुसार आपके गुरु उ. अहमदजान थिरकवा, जोकि फर्रुखाबाद घराने के सुप्रसिद्ध तबला वादक थे। आपने बताया कि दिल्ली के

निकटवर्ती स्टेशन शाहदरा के नाम पर सादरा गायन शैली का नाम पड़ा। आपके अनुसार शाहदरा में उस्ताद शाहजहाँन खॉ रहते थे, उनका एक और नाम मुज्ज़फर खॉ था। ये ही ख्याल गायन में झपताल की बन्दिशों का प्रयोग करते थे। इसी कारण झपताल में प्रयुक्त बन्दिशों को सादरा कहकर पुकारा जाने लगा। इसी प्रकार सादरा गायन शैली का आविष्कार हुआ।⁸

उत्तर प्रदेश में ध्रुवपद के समान ही सादरा गायन प्रचलित था और आज भी ख्याल गायकों से इस विधा को सुना जा सकता है। सादरा की लोकप्रियता का कारण यह है कि ध्रुपद युग में तो यह प्रचलित था ही परन्तु जिस समय ख्याल अपने चरमोत्कर्ष पर था उस समय भी यह ख्याल शैली में गाया जाता था। भातखण्डे जी की क्रमिक पुस्तक मालिका में झपताल में निबद्ध ध्रुपद की बन्दिशें भी संकलित हैं जैसे राग भैरवी में 'भवानी दयानी', राग मेघमल्हार में 'प्रबैल चल साथ जा', राग देवसाख में 'दुर्गे क्षीण दरिद्र वाहनी आदि' तथा क्रमिक पुस्तक मालिका भाग तीन में भी राग वृन्दावनी सारंग में 'मुखन मुर्जा धीर लिपटे सकल बदन' तथा राग बिहाग में 'कायम रहे राज्य और उमर दराज' आदि रचनाये सादरा के अन्तर्गत मानी जाती हैं। सादरा गायन शैली के कलाकारों में लखनऊ के दुल्ले खॉ और उनके पुत्र अहमद खॉ का नाम उल्लेखनीय है।

प्र० सत्यभान शर्मा जी के शब्दों में " जिस प्रकार तुमरी और दादरा में अन्तर है उसी प्रकार ध्रुपद, धमार और सादरा में अन्तर है। ध्रुपद विलंबित लय में गाया जाता है और सादरा के अन्तर्गत स्थाई, अन्तरा, संचारी, आभोग चारो अंगो में किसी भी प्रकार का कण न लगाकर शुद्ध सीधे सीधे ही गाते हैं। इसमें लयकारी नहीं होती। ध्रुपद, धमार की अपेक्षा सादरा थोड़ी चलती हुई लय में गाया जाता है। जिस प्रकार विलंबित ख्याल के बाद द्रुत ख्याल और तराना गाया जाता है तो तराने के स्थान पर सादरा गाया जाता है। सादरा में लय और अधिक बढ़ा देते हैं। आजकल के कलाकार इसी क्रम में गाते हैं। सादरा में अधिकतर झपताल का प्रयोग होता है परन्तु इनके अतिरिक्त यह अन्य तालों में भी गाया जाता है जैसे—सूलताल आदि।" सादरा में स्थाई, अन्तरा, संचारी, आभोगी ये चारों अंग पाये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप तानसेन की रचना राग मालकौंस में इस प्रकार है—

राग मालकौंस

स्थाई— आवन कह गये, अजहूँ न आये,

सब निश बीत मोहे, गिन गिन तारे ॥

अन्तरा— चन्द्र की ज्योति, महिलन भई जब ।

आये निपट, सबारे प्यारे ।

संचारी— पक्षी वन बोले, डगर सब खोले

फूले कमल, मधुप गुंजारे ॥

आभोगी— तानसेन के प्रभु, तुम बहुनायक

किन सौतन विरमाय प्यारे ॥⁹

उपशास्त्रीय संगीत की गायन शैलियों का अवलोकन

संगीत का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। आज यदि हम उपशास्त्रीय गायन शैलियों की बात करते हैं तो पता चलता है कि वास्तव में इसका संबंध प्राचीन संगीत से है। इसकी नींव या आधारशिला वास्तव में आज से हजारों वर्ष पूर्व रची गई होगी।

13 वीं शताब्दी में पं० शारंगदेव द्वारा महान ग्रन्थ संगीत रत्नाकर लिखा गया। इसके सात अध्यायों से स्वर, राग, ताल, प्रबन्ध आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। शास्त्रीय संगीत विशिष्ट नियमों द्वारा बद्ध है। इसकी मुख्य आधारशिला राग ताल तथा प्रबन्ध है।

राग अर्थात् स्वर पक्ष, ताल अर्थात् लय पक्ष और प्रबन्ध अर्थात् बंदिश। प्रकृष्ट रूप से बंधा हुआ ही प्रबन्ध कहलाता है। बोलचाल की भाषा में इसे बंदिश कहते हैं। यहीं पर हमें निबद्ध गान तथा अनिबद्ध गान का विवरण प्राप्त होता है।

दीनां माधुर्यस्थान्तरं महत् ।

तथापि न तदास्थातुं सरस्वत्यापि शक्यते ।

अर्थात् गन्ना, दूध, गुड़ आदि के माधुर्य में महान अंतर है परन्तु इस अन्तर को सरस्वती भी शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकती। बहुत कुछ यही बात भारतीय संगीत की इन उपशास्त्रीय गायन विधाओं के विषय में भी कही जा सकती है। सभी का अपना-अपना निराला सौन्दर्य है।

उपशास्त्रीय गायन शैलियों का आधार अंततः शास्त्रीय संगीत ही होता है। **साक्षात्कार के अन्तर्गत गिरिजा देवी ने उपशास्त्रीय संगीत की तुलना शास्त्रीय संगीत से ही की है।¹⁰** इसी प्रकार वर्तमान समय में लखनऊ घराने के कलाकार पं. गुलशन भारती के अनुसार आप उपशास्त्रीय संगीत को शास्त्रीय संगीत की श्रेणी में ही समझते हैं। आपके अनुसार तुमरी को उपशास्त्रीय विधाओं के अन्तर्गत क्यों माना जाता है? यदि आप सक्षम हैं तो आप शुद्ध राग में भी तुमरी गा सकते हैं। जिस प्रकार तुमरी में आर्विभाव तिरोभाव होता है उसी प्रकार शास्त्रीय संगीत में भी आर्विभाव तिरोभाव होता है।¹¹

उत्तर भारतीय संगीत में कुछ गायन विधायें ऐसी भी हैं जिन्हें हम सुगम या सरल संगीत की श्रेणी में मानते हैं परन्तु यदि ध्यान से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि ये विधायें किसी ना किसी रूप में उपशास्त्रीय संगीत से ही प्राणवायु ग्रहण करती हैं। उपशास्त्रीय संगीत राग गायन के समान निश्चित स्वरों के दायरे में सीमित नहीं रहता यह मुख्यतः भावप्रधान होता है। इसमें स्वरों के उतार चढ़ाव द्वारा गीति के भावों को अभिव्यंजित करना पड़ता है। संगीत व साहित्य का सुन्दर समन्वय ही इनकी विशेषता है। उपशास्त्रीय संगीत, शास्त्रीय संगीत की तरह ही कठिन व असाध्य है। यह संगीत किसी शास्त्र व वैज्ञानिक नियमों से जकड़ा हुआ नहीं है। उपशास्त्रीय संगीतकार का कण्ठ गमक से सधा हुआ होना चाहिए तथा वह मुर्कियों से युक्त बंदिशों में भावों से भरी हुई स्वर माधुर्य की धारा प्रवाहित करने की क्षमता रखता हो।

उपशास्त्रीय, गायन शैलियों की विशेषता कई बातों पर निर्भर करती है। यह गायन शैलियाँ कविता का सहारा लेती हैं क्योंकि ये श्रृंगार रस से सम्बन्धित होती हैं इसलिए इनके गीत अधिकतर प्रेम भावना से ओत प्रोत होते हैं। बोल का इन सभी शैलियों में बहुत महत्व होता है। बोल का काम, इन शैलियों की आत्मा होती है। बोल वृत्तांत का कोई भी नियम नहीं होता। यह

कार्य तो संगीतज्ञ को अपनी प्रतिभा व कल्पना शक्ति से करना होता है। जिस कलाकार की जितनी उपज होगी उतना ही वह अपने गायन को प्रभावयुक्त बना सकेगा।

उपशास्त्रीय गायन शैलियों की एक अन्य विशेषता यह है कि यह शैलियाँ समझदार तथा साधारण दोनों ही प्रकार के श्रोता पसन्द करते हैं। यह शैलियाँ स्वच्छन्द गति से आने वाली उस सरिता के समान हैं जिसमें एक ओर गंभीरता तो दूसरी ओर कोमलता भी है और यही कारण है कि जहाँ एक ओर बड़े कलाकारों ने इन्हें अपनाया है वहीं दूसरी ओर साधारण श्रोताओं को भी इन्होंने मंत्र मुग्ध किया है।

परंपरागत उच्चांग भारतीय संगीत में रागगान की प्रधानता होने के कारण भारतीय संगीत की किसी भी गीतविधा की श्रेष्ठता का मानदंड राग ही समझा जाता है। अतः जिस गीतविधा में किसी के नियमों व स्वर संदर्भों के प्रयोग का जितना परिपालन होगा उसे उतना ही श्रेष्ठ समझा जाता है। उपशास्त्रीय गीत विधाओं में अन्य रागों के विशिष्ट स्वर संदर्भों का प्रयोग भी कर लिया जाता है – शायद यही कारण है कि अत्यन्त कलात्मक व लोकप्रिय होते हुए भी इन गायन शैलियों को क्षेय व क्षुद्र समझा जाता रहा है।

संस्कृत साहित्य के रामायण, महाभारत, भरतकृत नाट्यशास्त्र, हरिवंश पुराण, रत्नावलि, प्राचीन बौद्ध व जैन ग्रन्थों से विदित होता है कि भारतीय जनजीवन में प्राचीनकाल से ही विभिन्न सामाजिक उत्सवों और विभिन्न सामाजिक उत्सवों और पर्वों पर कैशिकी वृत्ति का आश्रय लेकर नृत्यगान का प्रदर्शन संगीत व्यवसायिनी अप्सराओं, गणिकाओं द्वारा किए जाने की प्रथा रही है। अतः श्रृंगारात्मक ललित और स्त्रियोचित विधा होने के कारण तुमरी का गान और भावाभिनय की मध्ययुगीन वैदिक संस्कृति का विशेष अंग रहा है। मूलतः गणिकाओं द्वारा गाए जाने के कारण शायद आज तुमरी के घरानों का इतिहास नहीं मिलता और प्रायः यही कारण था कि गणिकाओं द्वारा गाए जाने के कारण ही शास्त्रीय संगीत के कलाकारों ने इस गान विधा को नीची नज़र से देखा।

पं० भातखंडे अपनी पुस्तक 'कमिक पुस्तक मालिका' में लिखते हैं कि तुमरी का गायन भले ही क्षुद्र माना जाए, परन्तु जनसाधारण के हृदय से इसे निकाला नहीं जा सकता। राग शुद्धता के विषय में ख्याल तुमरी को नहीं दिया जा सकता किन्तु जहाँ भाव का प्रश्न आता है, यहाँ तुमरी को ख्याल से कभी पीछे नहीं छोड़ा जा सकता। वे लिखते हैं :

तुमरी गायन गर्हणीय मुन्हीय नाहीं, इतकैचं की,

तुमरी उत्तम रीति ने गातां मात्र वाली पाहिजे।

अर्थात् तुमरी का गान पृणित कथापि नहीं है। इतना ही है कि उत्तम रीति से तुमरी गाना आना चाहिए।

इसी के साथ फिर एक बार पं० भातखंडे लिखते हैं कि तुमरी श्रृंगार सम्बन्धित भावनाओं का चित्रण है। श्रृंगार का कौन सहृदय क्षुद्र कहेगा। कृष्ण लीला संबंधी कृतियों को क्षुद्र करना तो वैष्णवों के सम्प्रदाय विशेष तो वैष्णव के सम्प्रदाय विशेष का अपमान है।

संयोग और वियोग दोनों ही चित्रण तुमरियों में मिलते हैं। कृष्णलीला संबंधी शक्तियों को क्षुद्र कहना तो वैष्णवों के एक सम्प्रदाय विशेष का अपादान है।

किसी भी शैली की प्रशंसा या निंदा एक बात है और उसके रहस्य को समझना दूसरी बात। स्व० फ़ैयाज़ ख़ाँ और मुश्ताक हुसैन ख़ाँ जैसे मूर्धन्य गायकों ने भी इन उपशास्त्रीय गायन शैलियों को भी बड़े ठाठ से अपनाया। फ़ैयाज़ ख़ाँ एक उच्चकोटि के गायक थे और उन्होंने भरी महफ़िलों में, रेडियो में, तुमरियाँ और दादरे ख़ूब ठाठ से गाये।

अन्य अनेक कलाकार जैसे विद्याधरी, राजेश्वरी, जुहराबाई, जानकीबाई, बड़ी मोती बाई, रसूलन बाई, सिद्धेश्वरी देवी, अख्तरी बाई जैसी गायिकाओं को संगीत के क्षेत्र में विशेषकर उपशास्त्रीय शैलियों के गायन के लिए समाज में भरपूर सम्मान मिला।

उपशास्त्रीय संगीत की प्रमुख विधाएँ

टुमरी

टुमरी शब्द की व्युत्पत्ति

हिन्दुस्तानी संगीत में टुमरी शब्द का व्यवहार एक विशेष गेय-विधा के लिए किया जाता है। यद्यपि यह शब्द इसी रूप में अथवा थोड़े रूपांतर के साथ उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाओं में प्रचलित है, जैसे – हिन्दी, पंजाबी, और गुजराती में टुमरी, सिधी में टुमरी, मराठी में टुमरी का अर्थ है :- टुमकना।

श्री सुनील कुमार बोस का विचार है कि तुम और री इन शब्दों के योग से टुमरी शब्द बना है। तुम शब्द 'तुमकत चाल' अर्थात् 'राधाजी की चाल' और री शब्द 'रिझावत' अर्थात् 'भगवान कृष्ण के मन को रिझाने' की ओर इंगित करता है। अतः टुमरी शब्द में 'राधा के तुमक कर चलते हुए कृष्ण के मन को रिझाने' की अभिव्यंजना है।¹²

स्वर्गीय आचार्य कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति के मतानुसार 'टुमरी शब्द के तुम और री दो अंश है। तुम टुमकने का द्योतक है और री अन्तरंग सखी से अपने अन्तर की बात कहने का।'¹³

टुमरी की उत्पत्ति

टुमरी के उद्भव के बारे में लोगों की विभिन्न मान्यताएं हैं। सामान्यतया लोगो की धारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी में अवध के शासक वाजिद अली शाह के समय लखनऊ दरबार में टुमरी गान शुरु हुआ।

वाजिद अली शाह का उर्दू शायरी, नाट्य, संगीत कथक नृत्य तथा टुमरी के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा है। उन्होंने 'अख्तर' उपनाम से अनेक काव्य तथा संगीत रचनाएं की। अपने इन गुणों के कारण वाजिद अली शाह की प्रसिद्धि एक कुशल कवि, नाट्यकार, संगीतज्ञ तथा टुमरी वाग्देकार के रूप में रही है। उनके समय में टुमरी लखनऊ में खूब फूली-फली।

डा. सुशील कुमार चौबे के मतानुसार लखनऊ के उस्ताद सादिक अली का तुमरी के अन्वेषक समझे जाते है।¹⁴

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के हकीम मुहम्मद करम इमाम, श्री क्षेत्रमोहन गोस्वामी आदि जैसे ग्रन्थकारों द्वारा तुमरी के उल्लेख में नवाब आसफुद्दौला के समय अर्थात् 1775 से 1797 तक लखनऊ में तुमरी के प्रचलन का आभास मिलता है। लगभग उसी समय अर्थात् 1779 से लेकर सन् 1803 के बीच जयपुर के महाराज सवाई प्रताप सिंह के राज्यकाल और उनके संरक्षण में श्री राधागोविन्द संगीतसार नामक संगीत के एक बृहत ग्रंथ की रचना हुई जिसमें तुमरी का वर्णन के राग विशेष के रूप में किया गया है। अतः— इससे भी ईसा की 18 वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में तुमरी गान के प्रचलित होने का पता चलता है।¹⁵

तुमरी की गायन शैलियाँ

बोल तुमरी की आत्मा है। गीत के बोलों पर ही प्रमुखतः आधारित होने के कारण तुमरी का विकास भी बोल प्रधान गायकी के रूप में हुआ। बोलों में निहित भाव, लय और गेयता के आधार पर तुमरी की दो शैलियाँ मानी गई है — बोल बॉट की तुमरी और बोल-बनाव की तुमरी।

बोल-बॉट की तुमरी —

1. इस तुमरी को 'बंदिश तुमरी' अथवा 'लय बॉट की तुमरी' भी कहा जाता है। बंदिश की प्रधानता होने के कारण ही तुमरी को 'बंदिशी तुमरी' की संज्ञा दी गई है। आरम्भिक अवस्था में तुमरी नृत्य के साथ गाई जाती थी।
2. इसी कारण ये तुमरियाँ बंदिश के रूप में गाई जाती थीं।
3. इन तुमरियों को 'अर्थ-भाव की तुमरी' कहा जाता था।
4. बोल-बॉट की तुमरियों की बंदिशें बहुत सुगठित होती है।
5. इनकी संरचना मध्य लय के ख्याल के समान होती है।

6. बंदिश को स्पष्ट शब्दोच्चारण सहित भावपूर्वक गाया जाना इनकी विशेषता है।
7. विभिन्न लयकारियों सहित स्वरबद्ध बोल विस्तार, गीत के बोलों को छोटी-छोटी तिहाईयों सहित सजाना आदि चीजों से इन तुमरियों की गान शैली बनती है।
8. बंदिशी तुमरी के रचयिताओं में बिंदादीन, सनदपिया, कदरपिया, कालिकादीन, अख्तरपिया, दरसपिया, सुघरपिया, सरसपिया, कुंवरश्याम, नज़रपिया, चॉदपिया, सबरंग, ललनपिया आदि के नाम लिए जाते हैं।
9. तीनताल, पंजाबी, अद्धा या सितारखानी में अधिकतर इन तुमरियों को गाया जाता है। कभी-कभी रूपक, झपताल, एकताल, आड़ा चौताल निबद्ध तुमरी रचनाएँ भी दृष्टिगत होती हैं।
10. बोल-बॉट की तुमरियों में व्यवहृत होने वाली भाषा मुख्यतः ब्रज है।
11. इस प्रकार मध्यलय में गाई जाने वाली तुमरियों में श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण मिलता है।
12. कुछ तुमरियों में तो काव्यात्मक चमत्कार भी देखने को मिलता है जैसे घनाक्षरी तुमरी, अधरबंद तुमरी इत्यादि।
13. घनाक्षरी तुमरियों के काव्य में घने और अनुप्रासयुक्त शब्द समूह होते हैं।
14. अधरबन्द तुमरियों के काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनमें होठों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। फर्रुखाबाद के 'ललनपिया' ऐसी तुमरी रचनाएँ करने में सिद्धहस्त थे। उनकी एक ऐसी ही रचना राग खमाज में है जो तीनताल में निबद्ध है –

“सखि सइया की सुरतिया जियरा हरे

ऐसे नैना अनियारे कजरारे खंजन सुखारे

चरो हेरन चतुर अधिक
 ललन दसन हसन न्यारे
 छरसत रंग रस सो ढग सो
 कह न सकत सुघर तारे
 ललन छैल रसिया ढाढो
 रंगीलो तीर तरूतर ।'

बोल-बॉट की तुमरियों का प्रचार क्षेत्र लखनऊ और उसके पश्चिम में स्थित फर्रुखाबाद, बरेली, मथुरा, दिल्ली आदि शहरों में अधिक होने के कारण इन्हें 'पछाईं तुमरी' भी कहा जाता है।

बोल बनाव की तुमरी –

1. बोल-बनाव की तुमरी उसे कहते हैं जिसमें बंदिश की अपेक्षा उसकी गायकी को अधिक प्रमुखता दी जाये। इसमें गायक गीत के बोलों में निहित भाव को विभिन्न स्वरावलियों से व्यक्त करता है। बोल-बॉट और बोल बनाव दोनों प्रकार की तुमरियों नृत्य में अभिनय के लिए उपयुक्त थीं। इस प्रकार की तुमरी के प्रवर्तकों में भैया गनपतराव और मौजूदीन खॉ के नाम उल्लेखनीय हैं।
2. बोल बनाव की तुमरी बंदिशें बहुत छोटी व सरल होती हैं। इन तुमरियों की बंदिशें बोल-बॉट की तुमरी की भाँति सुगठित और लयबद्ध नहीं होती।
3. विलंबित लय में गाई जाने के कारण इन तुमरियों की बंदिशों में गायक-गायिका इच्छानुसार परिवर्तन करने की भी सुविधा रहती है।
4. अधिकतर बंदिशों में तीन या चार मात्रा का मुखड़ा रहता है।
5. गायक विभिन्न प्रकार का बोल विस्तार करने के बाद मुखड़ा पकड़कर सम पर जाता है।

6. बोल बनाने की शैली को 'कहन शैली' कहने की भी परम्परा बन गई है।
7. इसमें प्रयोग की जाने वाली तालें दीपचंदी, रूपक, जत, पंजाबी, अद्धा आदि है। पंजाब अंग के कलाकार इसे दादरा, कहरवा तालों में भी गाते हैं।
8. बोल बनाव की तुमरी रचनाएँ अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि भाषाओं में होती हैं। कुछ तुमरियों में उर्दू भाषा के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।
9. श्रृंगार के संयोग वियोग दोनों पक्षों की रचनाएँ इन तुमरियों में मिलती हैं।
10. इन तुमरी रचनाओं में शब्दों का चुनाव भी ऐसा होता है जिस पर बढ़त की जा सके, जिन्हें भिन्न-भिन्न भावों से अभिव्यक्त किया जाता है।

लोक तत्वों से अधिक प्रभावित होने के कारण ये तुमरियाँ लोक धुनों से उपजे या उनसे संबंध रखने वाले रंगों में अक्सर पाई जाती हैं। जैसे – पहाड़ी, खमाज, मांड, बरबा, तिलंग, पीलू, भैरवी, काफी, सिंदूरा आदि बोल बनाव की तुमरियों में उनकी संरचना तथा गायन शैली के अनुसार दो भेद माने गये हैं जिन्हें अंग की संज्ञा दी गई है। ये अंग इन तुमरियों की प्रादेशिकता से भी संबंधित होते हैं। ये दो अंग हैं – पूरब अंग और पंजाब अंग।

1. **पूरब अंग की तुमरी** – बोल-बनाव की जिस तुमरी का प्रचार व प्रसार पूर्वी उत्तर प्रदेश व बिहार आदि भागों में हुआ, उसे 'पूरब अंग की तुमरी' या 'पूरबी तुमरी' कहा गया। **पं. गुलशन भारती के अनुसार— " शाजिद अली खाँ साहब पूरब अंग की तुमरी के प्रवर्तक कहे जाते हैं।"**¹⁶ 1. इन तुमरियों पर भारत के पूर्वी प्रदेशों की लोकधुनों व गीत जैसे – चैती, कजरी, पूरबी, घाटो आदि का प्रभाव है।
2. इस प्रकार की तुमरी में बंदिश के शब्दों में निहित भावों को विभिन्न प्रकार के स्वरों में लपेटकर गायक प्रस्तुत करता है।

3. इसमें बढ़त भी क्रमानुसार की जाती है।
4. मूल राग के अतिरिक्त इसमें अन्य रागों की छाया भी दिखाई जाती है। यह क्रिया सौन्दर्य उत्पन्न करती है। तुमरी गायन में राग मिश्रण की छूट रहती है।
5. इसमें कण, मुर्की, खटका, जमजमा, काकु भेद जैसे हूक, पुकार आदि का प्रयोग किया जाता है।

ऐसा माना जाता है कि तुमरी गायन का प्रचलन पहले लखनऊ में हुआ और वहाँ से यह विधा बनारस पहुँची। यद्यपि दोनों जगह गाई जाने वाली तुमरियों में समानता है फिर भी गान शैली की प्रकृति और रचना के आधार पर सूक्ष्म भेद करके इन्हें पृथक किया जा सकता है। इस प्रकार इन्हें लखनवी शैली के नाम से जाना जाता है।

(क) लखनवी शैली

1. लखनऊ में तुमरी का जो रूप विकसित और लोकप्रिय हुआ उसमें ब्रज भाषा के साथ-साथ लखनऊ और उसके आस-पास के स्थानों पर बोली जाने वाली अवधी और उर्दू भाषा का प्रभाव था।
2. लखनऊ में उस समय जो नज़ाकत और नफ़ासत थी वह तुमरी में भी नज़र आती थी।
3. कलायुक्त बोल बनाव इसकी विशेषता थी।

(ख) बनारसी शैली

1. कुछ लेखकों का कहना है कि लखनऊ के बिंदादीन जी के भाई कालिका प्रसाद तुमरी शैली को बनारस ले गए उन्हीं के द्वारा वहाँ की तवायफों में इसका प्रचार हुआ।
2. कालांतर में बनारस ने तुमरी के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया।

3. इन तुमरी रचनाओं पर पूर्वी प्रदेशों की लोक धुनों, लोकगीतों और बोलियों का बहुत प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप बनारस की तुमरी में कुछ निजी विशेषतायें उत्पन्न हो गईं। जिस कारण वह लखनवी तुमरी से पृथक हो गई। संभवतः इसीलिए कहा गया है कि बनारस की तुमरी लखनऊ की तुमरी का अनुवाद है।
4. इस पर पूर्वी उत्तर प्रदेश में गाये जाने वाले झूमर, कजरी, चैती, होरी, सावनी आदि लोकगीतों का बहुत प्रभाव दिखाई देता है। इस कारण इस तुमरी शैली में सादगी और सरलता है।
5. बनारस अंग की तुमरी बहुत ही हृदयस्पर्शी होती है। इसमें चैनदारी है और बोल-वृत्तान्त की मधुरता है।
6. यहाँ की बोलबाजी या कहन अलग किस्म की होती है, जिसमें हूक, दर्द, पुकार आदि काकु प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है।
7. इस शैली की तुमरी में भोजपुरी, मगही इत्यादि पूर्वी बोलियों का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है।
8. बनारसी तुमरी में हिन्दी की ब्रज, अवधी इत्यादि बोलियों में रचित दोहा, सोरठा, सवैया, कवित्त आदि रचनाएँ बीच-बीच में कहने का प्रचलन है।
9. इस शैली के कलाकार बनारसी तुमरी में कभी-कभी टप्पा अंग का भी पुट देते हैं।
10. बनारसी तुमरी के कलाकारों में बड़े रामदास, भोलानाथ भट्ट, बड़ी मोतीबाई, महादेव प्रसाद मिश्र, सिद्धेश्वरी देवी, गौहरजान, विद्याधरी, रसूलनबाई, मंगूबाई, सुगनबाई, बागेश्वरी देवी, गिरिजा देवी, शोभा गुट्टू, सविता देवी, रीता गांगुली, नैना देवी, अनीता सेन, पूर्णिमा चौधरी आदि के नाम प्रमुख हैं।

(ग) पंजाब अंग की टुमरी — टुमरी विधा लखनऊ दरबार से निकलकर समस्त भारतवर्ष में लोकप्रिय हुई। पंजाब के कलाकारों ने अपनी अनोखी सूझ-बूझ, भावुकता और गले की हरकतों से ऐसा चमत्कार रूप प्रदान किया कि पंजाब के टुमरी गायन ने अपनी विशिष्टताएँ लेकर पंजाब अंग की टुमरी संज्ञा से अभिहित होकर स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त किया।

1. पंजाब अंग की टुमरी को अस्तित्व में लाने का श्रेय कसूर के गायक अलीबक्श खॉ को दिया जाता है। अली बख्श ने अपने जीवन का बहुत समय लखनऊ तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में व्यतीत किया जहाँ उन्होंने विंदादीन, कालिका प्रसाद और ठाकुर नवाब अली खॉ से टुमरी गायकी सीखी। पूरब की टुमरी शैली से प्रेरित होकर उन्होंने ही सबसे पहले पंजाब के लोकगीतों के सहारे उसका अनुवाद पंजाब अंग में किया।
2. अली बख्श पहले ख्याल गायक थे जिन्होंने टुमरी को पंजाब में सन्निविष्ट किया और तत्पश्चात् उनके पुत्रों ने बड़े गुलाम अली खॉ और बरकत अली खॉ ने अपने पिता से प्राप्त टुमरी गायन शैली को टप्पा अंग की तानों, गले की बारीक हरकतों, सरगम आदि से सँवारकर एक नवीन शैली को प्रचलित किया, जो पंजाब की अपनी विशेषता बन गई।
3. आज पंजाब अंग की टुमरी की बात छेड़ते ही उ. बड़े गुलाम अली खॉ का नाम याद आता है। हालांकि बड़े गुलाम अली खॉ, पंजाब अंग की टुमरी को पूरब अंग से सर्वथा भिन्न व स्वतंत्र मानने को तैयार नहीं थे। संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली में रिकॉर्ड की गई एक भेटवार्ता में उन्होंने स्वतः स्वीकार किया था कि वस्तुतः टुमरी का एक ही 'अंग' है और वह 'पूरब'। उनके कथानुसार पंजाब में टुमरी कभी भी संगीत की विशिष्ट शैली के रूप में विकसित नहीं हुई अपितु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से वहाँ परम्परागत रूप में पूरब शैली की ही टुमरी गाई जाती रही।

टप्पा –

उत्तर भारतीय उप-शास्त्रीय संगीत को पंजाब द्वारा दी गई टप्पा गायन शैली एक चमत्कारपूर्ण और विलक्षण तोहफा है।

पंजाब के संगीत के इतिहास में टप्पा गायन का उद्भव और विकास अपना विशेष महत्व रखता है। टप्पा शब्द पंजाबी भाषा के "टप्पना" शब्द से निःसृत हुआ है जिसका अर्थ है – 'उछलता हुआ'।

शब्दकोश में तो 'टप्पा' के बहुत से अर्थ मिलते हैं जैसे : उछाल, कूद, अंतर, फर्क एक प्रकार का चलता गाना जो पंजाब से चला है। यह पूर्णतः विधा है लेकिन इसकी गायन प्रक्रिया बहुत अंशों में ख्याल और ठुमरी के मिश्रण का आभास देती है।

उद्गम

कहा जाता है कि मुगल बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले के समय में टप्पे का आविष्कार शोरी मियां द्वारा किया गया जो पंजाब के रहने वाले थे और जिनका वास्तविक नाम गुलाम नबी था। कोई-कोई विचारक उन्हें अयोध्या निवासी बताते हैं परन्तु टप्पा की भाषा पूर्णतः पंजाबी होने के कारण उनके पंजाबी होने में संदेह के लिए स्थान नहीं रह जाता। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि पंजाब के ऊंट हांकने वालों के द्वारा गाई जाने वाले गीत की धुनों से टप्पा का प्रारम्भ हुआ।

कैप्टन विलर्ड का कथन है कि 'टप्पा पंजाब में ऊंट हांकने वाले गायन करते थे।

अधिकतर टप्पा गीतों की विषय वस्तु प्रेम प्रसंग अर्थात् श्रृंगार रस से परिपूर्ण होती थी और उनको गाकर वे अपनी यात्रा के श्रम का परिहार करते थे। उनके सरल और सादे जीवन में ये गीत सुन्दर एवं मनोरंजनपरक थे।

टप्पा चंचल प्रकृति की गायन विधा है। यद्यपि यह शैली शास्त्र के कठोर नियमों से पूर्णतः जकड़ी हुई नहीं तथापि सरल भी नहीं है और सामान्य गायक कलाकार इस विधा में बिना कठोर अभ्यास के क्षमता और दक्षता प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें रसोत्पत्ति अथवा भावाभिव्यक्ति की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना घनिष्ठ बोलतानों के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की ओर दिया जाता है। टप्पा में ख्याल और तुमरी की भांति एक स्थाई व एक अन्तरा होता है। तुमरी में तानें नाजुक, मृदुल और माला के समान गुंथी हुई होती हैं परन्तु टप्पे की तानें पारे के दानों की भांति बिखरी हुई प्रतीत होती हैं।

टप्पा साधारण मध्य में लय में गाया जाता है। टप्पे में आलाप के लिए स्थान नहीं होता तथा ना ही लम्बी एवं सपाट तानें प्रयुक्त की जाती हैं अपितु इसमें पेंचदार हरकतें अवरोधात्मक दानेदार तानें, खटक, मुर्की इत्यादि की प्रधानता रहती है। टप्पा गायकी का विस्तार मध्य व तार सप्तक में अधिक होता है। इस गायन विधा के लिए खास प्रकार की आवश्यकता होती है। मुखड़ा पकड़कर सम पर मिलने के लिए बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। उसमें शब्द के साथ छोटी-छोटी तानें एवं मुर्किया ली जाती हैं।

भारत में वर्तमान टप्पा- गायकों में श्रीमती सुमति मुटाटकर, श्री एल. के. पण्डित, श्रीमती गिरिजा देवी, श्रीमती सविता देवी, प्रसिद्ध हैं।

दादरा

दादरा तुमरी से मिलता जुलता गीत का प्रकार है इसका स्वरूप विषय और प्रस्तुतिकरण तुमरी के सदृश ही होता है परन्तु दोनों में अन्तर ताल का है। यह दादरा नामक ताल और कभी-कभी कहरवा में गाया जाता है इसके साथ ही उसमें तुमरी की भांति बोल-बनाव नहीं होता इसे मध्य तथा द्रुत में गाया जाता है। इसमें प्रायः श्रृंगार रस के गीत होते हैं।

तुमरी के प्रायः समकक्ष ही दादरा का स्थान है जो कलाकार तुमरी गा सकता है, वह कुछ अभ्यास के पश्चात् दादरा भी भलीभांति गा सकता है। तुमरी की तालें दादरा की तालों से

बड़ी होती है और इसी कारण बोलबनाव की अधिक गुंजाइश होती है। तुमरी की तुलना में दादरा का सम जल्दी आता है। दादरा ताल 6 मात्रा की होती है और इन्हीं छ मात्राओं के अन्दर बोल बनाना पड़ता है। यदि ताल कहरवा प्रयोग में लाई जाये तो उसमें भी 8 हीं मात्राएं होती है परन्तु इन तालों में उत्तम बोल कहना कला की खूबी है इसलिए दादरा में चंचलता के भाव कुछ अधिक होते है इसके साथ-साथ इसमें शब्दों में निहित भाव को छोटे-छोटे भावपूर्ण बोलबनाव से दिखाना पड़ता है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि दादरा का विकास बनारस में हुआ। बनारस के दादरो में काव्य रचना कौशल व भावपूर्ण कोमल कल्पनाओं का सुन्दर समिश्रण दिखाई देता है। दादरा को सम्यक रूपेण गाने के लिए प्रथमतः तुमरी की शिक्षा तथा अभ्यास आवश्यक है। दादरा के शब्दों को भांति-भांति के स्वर समूहों द्वारा अलंकृत किया जाता है।

दादरा का जन्म लोकगीतों के द्वारा ही हुआ। शास्त्रीय संगीतकारों ने लोकगीतों को शास्त्रीय तुमरी अंग से दादरा ताल में गाना आरम्भ किया तो उस ताल के नाम पर ही दादरा गायन प्रसिद्ध हो गया। दादरा में राग की शुद्धता की अपेक्षा रंजकता पर ही बल दिया जाता है। अतः कई रागों को सुन्दर ढंग से मिश्रण करके भी गाया जाता है। दादरा का गायन कलाकार की प्रतिभा, भावुकता, कंठ के सुरिलेपन और कल्पना शक्ति पर निर्भर करता है। दादरा प्रायः भैरवी, खमाज, पीलू, काफी, पहाड़ी आदि रागों में गाया जाता है।

दादरा की विषयवस्तु अधिकतर प्रेम व्यवहार, प्रेमियों के उलाहने और शिकायतें, विरह वेदना, रूप के प्रति आसक्ति, नाज नखरे आदि तक ही सीमित रखता है। अत्यधिक पुट देने के लिए प्रायः कृष्ण राधिका के सम्बन्ध रखने वाले प्रेम लीलाओं को भी विषय वस्तु बनाया जाता है।

बनारसी शैली के दादरों में तुमरी जैसा ही विस्तार और वैसा ही बर्ताव विशेष रूप से होने के कारण उनके दादरे गतिशील स्वर को मर्कियों से परे कलात्मक सौन्दर्य को उभारते है। “सैया बिना नहीं आवत चैन” या ‘मोरे नैना उन्हीं संग लागे,’ ‘जिया चाहे सो करे’ आदि दादरे

दुमरी के आस-पास है वैसी ही उदात्त भावाकूलता प्रकट करते हैं। इसलिए स्वरों का आकर्षण जिन श्रोताओं का है वे भी इस प्रकार के दादरे सुनकर आनंद विभोर हो जाते हैं।¹⁶

चैती

होरी के बाद जब चैत का महीना आरम्भ होता है तब "चैती" गाई जाती है। इसके गीतों में भगवान राम की लीलाओं का वर्णन रहता है। पूर्व बिहार की ओर इसका प्रचार अधिक है। इसमें अधिकतर पूर्वी भाषा का प्रयोग होता है।

चैती का उद्भव और विकास :

'चैती' शब्द संस्कृत के 'चैत्री' का अपभ्रंश रूप है। चैत्री का अर्थ है— चैत्र पूर्णिमा। हिन्दू धर्म में पूर्णिमा अर्थात् पूर्णमासी का बड़ा महत्व है। धार्मिक दृष्टि से पूजा संबंधी विशेष अनुष्ठान के लिये पूर्णिमा के दिन को विशेष मान्यता प्राप्त है। श्रावणी पूर्णिमा के दिन रक्षाबन्धन का पवित्र पर्व मनाया जाता है। भादों की पूर्णमासी के दिन जैन संप्रदाय के लोगों का एक बहुत बड़ा धार्मिक त्योहार 'दशलक्षणपर्व' सम्पन्न होता है। शरद पूर्णिमा अपनी अद्वितीय सुषमा के लिये काव्य में बहुचर्चित है। कार्तिक पूर्णिमा के दिन गंगा स्नान करने से पाप मुक्ति होती है, ऐसी धारणा प्रायः पाई जाती है। फाल्गुन पूर्णमासी के दिन होली की समाप्ति एवं चैत का आगमन होता है। चैत्र पूर्णिमा के दिन इसी प्रकार चैत की विदाई होती है।¹⁷

बनारस में, अवध, गया और पूर्व बिहार के श्रद्धालु, धार्मिक, जनमानस चैतमास में राम जन्मोत्सव के पावन पर्व के कारण, अत्यन्त हर्षोल्लास से भरे होते हैं। रामनवमी के दिन राम भक्त गा उठते हैं चैती, जो रामजन्म निमित्त बधैया के रूप में होता है।

'जनमे अवध रघुराई हो रामा, चैत महिनवा' ।।

इस प्रासंगिक चैती के अलावा उपलिखित श्रृंगार सम्पूर्ण चैती बनारस के उपशास्त्रीय संगीत के वैभव को और भी बढ़ाती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चैती लोकसंगीत का एक प्रकार है अतः इसका उद्भव भी लोकसंगीत के उद्भव के साथ ही माना जा सकता है। लोकसंगीत उस युग की वस्तु है जब मानव जाति जंगली जाति के रूप में थी। उस समय का लोकसंगीत शब्द की दृष्टि से भले ही सार्थक ना रहा हो किन्तु उसका अस्तित्व था। कालांतर में लोकसंगीत का परिष्कार तथा वर्गीकरण हुआ।

कजरी

कजरी का अर्थ है 'बनारस और उत्तर पूर्व भारत की बोली भाषा में हृदयस्पर्शी काले-काले बादलों वाली काली घटा वाली, काले नैनों के और काले मेंघों के पावस की, सावन की, काली रात में कभी-कभी चमकती हुई बिजुरी की और ऋतु में वियोग और संयोग श्रृंगार में नायिका की जो मनोदशा होत है इसका वर्णन करने वाले गीत को स्वरों के माध्यम से अभिव्यंजित है।

पावस ऋतु में बरसाती घटा में सहेलियों को साथ लेकर नायिका अमराई में झूला डाल कर सांवरियां को याद करती है। इसके साथ ही 'नैहर से केहु नाहिं अइवै हो रामा' मैके से किसी के ना बुलाने से नायिका दुविधा में भी पड़ जाती है।

कजरी का उद्भव एवं विकास :

'कजली' जिसे ग्राम्यजन कजरी कहते हैं, संस्कृत शब्द कज्जल से निकला है। यह शब्द कई अर्थों का वाची है किन्तु मुख्य अर्थ इस शब्द का कालिमा, कालौह या कालिख है। कजली का संबंध वर्षा की काली घटा, कजली देवी अर्थात् विन्ध्याचल की कज्जला देवी, कजली त्योहार या उत्सव, कजली रागिनी या गीत से है। कजरी गीत की लोक परम्परा कब प्रारम्भ हुयी यह कहना अत्यन्त कठिन है परन्तु यह कहना उचित ही जान पड़ता है कि जनमानस में इसके स्वर प्राचीन समय से गुजांयमान थे। गीत की इस परम्परागत लोकशैली का नाम मूलतः कजरी ही था जिसे पढ़े-लिखे फारसी उर्दू दाँ 'कजली' कहा करते थे।

कजरी का नामकरण श्रावण मास में घिरने वाले काजल सरीखे बादलों की कालिमा के कारण हुआ है। काजल शब्द 'कज्जल' का अपभ्रंश है, इसी से 'कज्जली' शब्द बनता है जिसे बोलचाल की भाषा में 'कजली' या 'कजरी' कहा जाता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है—

“कु धातु— कुत्सित जलं, यस्मात् शुभ्रमपि जल संयोगात् स्ववर्णत्वं नयतीति 'कज्जलं' 'काजलं, इति भाषा।”¹⁸

काजल सरीखे कजरारे बादलो को देखकर गाने की कल्पना को लेकर ही वर्षाकालीन गीत—विशेष को कजली या कजरी नाम दे दिया गया। स्पष्ट है कि मेघों का कजरापन ही कजरी गीतों के नामकरण का निदान बना।

कजरी पर लोकसंगीत का प्रभाव तो पड़ता ही है इसके साथ ही शास्त्रीय व उपशास्त्रीय गायक व गायिका कजरी में मनोहर श्रृंगार को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। प्रकृति वर्णन तथा नायिका के मनोभावों की अभिव्यक्ति दोनों ही कजरी के काव्य में ओत—प्रोत है। कजरी गाने वाले गायक व गायिका अधिकतर पूर्वोत्तर भारत में विशेष रूप से मिर्जापुरी तथा बनारस के लोकसंगीत की दो शैलियों को समृद्ध कर रहे हैं। मिर्जापुरी कजरी की एक झलक इस प्रकार है —

‘कैसे खेलन जइहो सावन मा कजरिया, बदरिया घेर आइल ननदी’।

होरी

होली शब्द की व्युत्पत्ति को शास्त्रीय संगीत की 'धमार' शैली के साथ जोड़ा जा सकता है। क्योंकि इसके साहित्य में प्रायः होरी (फाग) का वर्णन मिलता है। होरी गान होरी के अवसर पर महिलाओं द्वारा ढोलक आदि पर किया जाता है, तब वह लोकसंगीत के अन्तर्गत आता है परन्तु जब गायक द्वारा स्वरों का फैलाव करते हुए तथा बोल बनाव आदि के द्वारा फाग रचनाओं को प्रस्तुत किया जाता है तो वह होली 'उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आती है।'

“शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से होली शब्द ‘हो’ तथा ‘ली’ इन दो शब्दों के संयोग से बना है। भाषा शब्द कोश के अनुसार ‘हो’ शब्द संबोधन वाचक है और उल्लास एवं हर्ष की अभिव्यक्ति का बोधक है। आनंद एवं उल्लास की प्रवृत्ति होली गान की समस्त विधाओं में परिलक्षित होती है। जनभाषाओं में ‘ल’ के स्थान पर प्रायः ‘र’ का प्रयोग भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है जैसे कजली या कजरी, घर वाला या घरवारा, धमाल या धमार इत्यादि।”¹⁹

होरी गायन शैली में प्रायः राधाकृष्ण का परस्पर होली खेलना ही इन गीतों का मूल विषय होता है। होरी के गीतों के पदों के वर्ण्य विषय अधिकांशतः राधा-कृष्ण और गोपियों की फाल्गुन मास की लीलाओं का वर्णन होता है। इस प्रकार शृंगार रस के संयोग तथा वियोग दोनों ही रूप इन गीतों में दिखाई देते हैं।

होली प्रायः कुछ विशेष राग जैसे- काफी, खमाज, पीलू, पहाड़ी आदि रागों में ही गाई जाती है। परन्तु होली का मुख्यतः चलन काफी राग में ही दीपचंदी ताल के साथ अधिकांशतः देखा जाता है। आजकल से ही नहीं बहुत पहले से ही लोग इसे पारम्परिक धुन के रूप में गाते चले आ रहे हैं। श्रीमती प्रोफेसर कमला श्रीवास्तव (पूर्व सहायक प्राध्यापक संगीत शास्त्र एवं विभाग) के अनुसार राग काफी होरी की काफी परक धुनों से बना है। होरी के पुरानी धुनों से राग काफी बना और होली में समा गया है।

सन्दर्भ सूची

1. Historical Study of Indian Music, Swami Praganana, Pg. 23
2. संगीत का उद्गम स्थान : सामवेद, एस० एस० आयंगर, संगीत – फरवरी 1969, पृ०. 3
3. यक्षों को भारत की देन – अरुण कुसमान अली
4. ध्रुपद धमार अंग 1934 पृ. सं. 25
5. वहीं पृ. सं. 26
6. भारतीय संगीत – गिरिश चन्द्र उप्रेती पृ. सं. 32
7. साक्षात्कार – पं. गुलशन भारती– दिनांक – 15-10-2014
8. साक्षात्कार – पं. मानस दास गुप्ता– दिनांक – 01-04-2014
9. साक्षात्कार – प्रो. सत्यभान शर्मा– दिनांक – 04-03-2014
10. साक्षात्कार – विदुषी गिरिजा देवी द्वारा –दिनांक – 19-02-2015
11. साक्षात्कार – पं. गुलशन भारती– दिनांक – 15-10-2014
12. तुमरी की उत्पत्ति, विकास एवं शैलियाँ – डा. शत्रुघ्न शुक्ल, पृ. सं. 5
13. तुमरी में सनातन सांगीतिक तत्व, कला भरती तुमरी सम्मेलन पत्रिका – स्व. आचार्य
कैलाश चन्द्र बृहस्पति देव, पृ. सं. 5
14. तुमरी की उत्पत्ति, विकास एवं शैलियाँ – डा. शत्रुघ्न शुक्ल, पृ. सं. 56
15. साक्षात्कार – पं. गुलशन भारती– दिनांक – 15-10-2014
16. काशलकर, डा. श्रीमती उल्का देवी, उत्तर भारतीय उपशास्त्रीय प्रकार, संगीत कला
बिहार, वर्ष 44 अंक 1991 पृ. सं. 125-127
17. चैती, 'डॉ० शान्ति जैन' पृ०सं० 111-115।
18. 'कजरी' 'डॉ० शान्ति जैन', पृ०सं० 7, 68-71, 82-84।
19. 'हिन्दुस्तानी संगीत में होरी गान', नीता माथुर, पृ० सं० 4, 16-17।